नियत भोजनकाल

डॉ. विश्वावसु गौड
असिस्टेंट प्रोफेसर,
महात्मा ज्योतिबा फुले आयुर्वेद महाविद्यालय,
हाड़ोता, चौमू, जयपुर (राजस्थान)

(म.म. राष्ट्रपति-सम्मानित) प्रो. वैद्य बनवारी लाल गौड़
पूर्व कुलपति,
डॉ. एस. आर. राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय जोधपुर
पूर्व निदेशक - राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर

आयुर्वेदीय संहिताओं में आहार कितनी बार लिया जाये, यह स्पष्टतः निर्देश देने की अपेक्षा इसे जाठराग्नि की स्थिति से सम्बद्ध कर दिया। आचार्यों का यह सैद्धान्तिक निर्देश है कि पूर्व के भोजन के जीर्ण होने पर ही भोजन करना चाहिए, **यथा— जीर्णेऽश्नीयात् (च. वि. 1/25), जीर्णे हितं मितं चाद्यात् (अ. हृ. सू. 2/19)।** अतः दिन में कितनी बार भोजन किया जाए यह निश्चित निर्देश नहीं है। जीर्ण स्वरूप क्या है? यह जानना भी आवश्यक है, क्योंकि इसको जाने विना यदि व्यक्ति जीर्णता का मिथ्याभास होने पर ही भोजन कर लेता है तो वह हानि करता है।

यहाँ एक बात स्पष्टतः और जान लेनी चाहिए कि जो भोजन का जीर्णकाल होता है वही क्षुधाकाल नहीं है। भोजन के पाचन के बाद अर्थात् लगभग जीर्ण होने के बाद सम्पूर्ण महास्रोतस् एवं अन्य स्रोतस् में आहार के अवशिष्ट अंश अवलिप्त रहते हैं, जिससे स्रोतस् में क्लिन्नावस्था रहती है, जब कुछ काल में इन अंशों का भी पूर्णतः अवशोषण हो जाता है तभी स्रोतस् की शुद्धि होती है, दोषों के स्वपथगमन का मार्ग खुल जाता है, इसी कारण से अपान वायु का सरण और उद्गार की शुद्धि के साथ-साथ हृदय की सुविमलता होती है, हृदय पर किसी तरह का दबाव नहीं होता है। इसी के बाद जाठराग्नि की दीप्तावस्था होती है तथा पाचकपित्त (या पाचकरसों) का सम्यक् उद्रेक होता है। ऐसा होने पर ही क्षुधा की प्रतीति होती है।

अतः यह कहना अधिक उपयुक्त है कि उपर्युक्त सभी लक्षण एक दूसरे के अनुबन्ध रूप में रहते हैं, अतः लगभग इन सभी लक्षणों के उपस्थित होने पर ही भोजन का नियत काल मानकर विधिसम्मत आहार का प्रयोग करना चाहिए। पूर्व भोजन के जीर्ण हो जाने के बाद क्षुधा के स्वरूप को स्पष्टतः मापदण्डों के माध्यम से नियत करते हुए आचार्य वाग्भट कहते हैं कि—

प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे
विशुद्धे चोद्गारे क्षुदुपगमने वातेऽनुसरति|
तथाऽग्नावुद्रिक्ते विशदकरणे देहे च सुलघौ
प्रयुञ्जीताहारं विधिनियमितं, कालः स हि मतः|| (अ. हृ. सू. 8/55)

अर्थात् मल-मूत्र का सम्यक् विसर्जन हो जाने पर, दोषों के अपने-अपने मार्ग में गमन करने पर, उद्गार के विशुद्ध होने पर (शुद्ध डकार आने पर), भूख के अच्छी तरह लग जाने पर, वायु का सरण अनुलोम रूप में होने पर, अग्नि के दीप्त होने पर, देह एवं इन्द्रियों के निर्मल होने पर, देह में लघुता की अनुभूति होने पर विधिसम्मत आहार का प्रयोग करना चाहिए। भोजन का यही सही समय माना गया है।

क्षुधा का लाक्षणिक स्वरूप स्पष्टतः निर्दिष्ट कर दिए जाने पर भी इसका व्यावहारिक स्वरूप भिन्न है, क्षुधा की प्रतीति जाठराग्नि के द्वारा पूर्व भोजन के विपाक के बाद ही होती है, लेकिन यह पूर्व में किए गए भोजन के स्वरूप पर भी निर्भर करती है। कुछ व्यक्ति दिन में एक बार ही भोजन करते हैं तो उन्हें अग्रिम दिन इस काल पर क्षुधा की प्रतीति होगी, जाठराग्नि उसी के अनुरूप व्यापार करती है और जीर्णता के लक्षण भी उसी के अनुरूप उत्पन्न होते हैं। अतः दिन में व्यक्ति को भोजन कितनी बार किया जाना चाहिए इसकी अपेक्षा यह जानना आवश्यक है कि स्वभाव या अभ्यास के आधार पर व्यक्ति दिन में कितनी बार भोजन करता है, इस स्वरूप को पाँच प्रकार से विभक्त किया जा सकता है—

१. एककाल भोजन
२. द्विकाल भोजन
३. त्रिकाल भोजन
४. यामातीत भोजन (चतुष्काल भोजन)
5. पुनः पुनः भोजन

1. एककाल भोजन

तप, अध्ययन, ब्रह्मचर्य एवं व्रत आदि का परिपालन करने वाले विभिन्न जन एक अहोरात्र में केवल एक बार ही आहार-ग्रहण करते हैं, जिसकी एक निश्चित मात्रा होती है, यह सोद्देश्य होता है अतः इसमें मात्रा की न्यूनाधिकता होती है। सामान्यतया यह शरीर के पोषण के अनुरूप पर्याप्त होता है, फिर भी यदि मात्रा में न्यून आहार होता है तो शरीर का पूर्ण पोषण नहीं होने से शरीर का क्षय होता है, यह सोद्देश्य होता है, जैसे— चातुर्मासव्रत, श्रावणमासव्रत, कार्तिकमासव्रत, चान्द्रायणव्रत, पयोव्रत आदि। अतः इन व्रतों के पूर्ण होने के बाद इस अवधि में हुए क्षय की बाद में द्विकालिक भोजन से पूर्ति हो जाती है। अभिवृद्ध मेदोधातु आदि के क्षय और अभिवृद्ध दोषों के क्षय आदि से शरीर को लाभ भी होता है, ये दोषात्मक होते हैं जो बाद में द्विकालिक पथ्याहार करने से पुनः वृद्ध नहीं होते, यदि अपथ्य का सेवन करते हैं तो ये पुनः अभिवृद्ध हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त जिनकी अग्नि दुर्बल होती है उन्हें भी एककाल भोजन ही करना चाहिए। यथा—

एककालं भवेद्देयो दुर्बलाग्निविवृद्धये। (सु. उ. 64/62)

एककाल भोजन करने वालों को मध्याह्न में भोजन करना चाहिए। आचार्य सुश्रुत कहते हैं कि जिन ऋतुओं में दिन और रात समान स्वरूप के होते हैं उनमें काल का सम्यक् विभाजन कर भोजन करना चाहिए—

रजन्यो दिवसाश्चैव येषु चापि समाः स्मृताः||
कृत्वा सममहोरात्रं तेषु भुञ्जीत भोजनम्| (सु. सू. 46/470-471)

यद्यपि यह निर्देश एककालभोजी और द्विकालभोजी आदि सभी के लिए है, फिर भी व्याख्याकार डल्हण इसे एककालभोजन करने वालों के लिए ही निर्देश मानते हैं, यथा—

सममहोरात्रिमिति मध्याह्न इत्यर्थः। अयमेकाशनस्य पुरुषस्य विधिः। (डल्हण)

2. द्विकालभोजन

संहिताओं में द्विकालभोजन का सर्वाधिक उल्लेख है तथा इसे सर्वश्रेष्ठ माना गया है—

दिवा विबुद्धे हृदये जाग्रतः पुण्डरीकवत्।
अन्नमक्लिन्नधातुत्वादजीर्णेऽपि हितं निशि।।

हृदि संमीलिते रात्रौ प्रसुप्तस्य विशेषतः।
क्लिन्नविस्रस्तधातुत्वादजीर्णे न हितं दिवा।। (सु. सू. 46/530-531)

अर्थात् दिन में हृदय के कमल के समान विशेष रूप से बुद्ध (ज्ञानवान्, कर्मशील) होने के कारण जागते हुए व्यक्ति के धातुओं के अक्लिन्न (क्लेदरहित) होने के कारण अजीर्ण में भी रात्रि में किया गया अन्न (आहार) हितकर होता है, लेकिन रात्रि में प्रसुप्त व्यक्ति के हृदय के विशेष रूप से संमीलित (सङ्कुचित, शिथिल, अल्प क्रियाशील) होने के कारण धातुओं के क्लेदयुक्त एवं शिथिल होने के कारण (अजीर्ण होनेपर) दिन में भोजन (प्रातःकालीन भोजन) करना हितकारक नहीं है। यहां अजीर्ण का तात्पर्य है भोजन के जीर्ण हो जाने के बाद भी यदि कुछ अंश के अवशिष्ट या अवलिप्त रह जाने के कारण क्षुधा की प्रतीति नहीं होती है तो भी रात्रि में भोजन कर लेना चाहिए, यदि भोजन जीर्ण नहीं हुआ है और अजीर्ण के लक्षण हैं तो भोजन नहीं करना चाहिए, वैसे यह भी पृथक् से विवेचनीय विषय है।

यहाँ यह भी स्पष्ट है कि द्विकालभोजन भी सर्वदा नियत दो समय में मात्रापूर्वक करना चाहिए। यह भोजन आलस्य, गौरव, आध्मान, बलक्षय आदि दोषों से रहित होता है।

3. त्रिकाल भोजन

वर्तमान में भी मुख्य भोजन के रूप में द्विकालभोजन ही प्रचलित है, लेकिन व्यवहार में स्वल्पाहार के रूप में प्रातःकालीन भोजन भी प्रचलित है, जो श्रमजीवियों के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। श्रोत्रिय, यज्ञकर्ता, जप-तप-यम-नियमादि में लगा हुआ व्यक्ति कभी भी प्रातःकालीन स्वल्पाहार नहीं कर पाता। फिर भी त्रिकालभोजन शरीर की आवश्यकता के अनुरूप तथा काल के स्वरूप के अनुरूप आयुर्वेदाचार्यों ने संकेतित किया है। हेमन्त एवं शिशिर में रात बड़ी होती है, अतः ऐसी स्थिति में आवश्यक कार्य सम्पन्न करके प्रातःकाल जल्दी भोजन करना चाहिए। यथा—

दैर्घ्यान्निशानामेतर्हि प्रातरेव बुभुक्षितः।
अवश्यकार्यं सम्भाव्य यथोक्तं शीलयेदनु॥ (अ. हृ. सू. 3/9)

इसी तरह जिन ऋतुओं में दिन बड़े होते हैं, उनमें प्रातः सायं मुख्य भोजन करने के अतिरिक्त अपराह्ण में लघु भोजन करने का निर्देश है, यथा—

येषु चापि भवेयुश्च दिवसा भृशमायताः॥
तेषु तत्कालविहितमपराह्णे प्रशस्यते। (सु. सू. 46/469-470)

इस तरह मुख्य भोजन प्रातः सायं दो ही होते हुए भी आवश्यकतानुसार तीन बार के भोजन का भी विधान है।

4. यामातीत भोजन (चतुष्काल भोजन)

जिन लोगों की अग्नि अधिक तीव्र है अथवा श्रमशील, व्यायामी, अध्वगमनकर्ता एवं क्षीण व्यक्ति हैं वे थोड़ा-थोड़ा भोजन 4 बार भी कर सकते हैं। इसमें

A. प्रातः कालीन स्वल्पाहार (कलेवा, Breakfast)
B. मध्याह्न में मुख्य भोजन (Lunch)
C. अपराह्ण में फलाहार या ऋत्वनुरूप पेय या चाय पान के साथ अत्यल्प आहार द्रव्य (Snacks)
D. रात्रि के प्रथम प्रहर में किया जाने वाला मुख्य भोजन (Dinner)।यह सुजर एवं लघु होना चाहिये।

यदि व्यक्ति ऐसा न करके केवल मूर्त द्रव्य (ठोस द्रव्य) आहार के रूप में ग्रहण करना चाहे तो भी इस समय-विभाजन के आधार पर किया जाने वाला भोजन भी व्यवहार में चार बार से अधिक नहीं हो पाता। यदि हम यह कल्पना कर लें कि व्यक्ति चार घंटे में एक बार खाता है तो वह अहोरात्र के 24 घंटे में से 8 घंटे निद्रा एवं अन्य प्रक्रियाओं के लिये

नियत कर उसके आधार पर इनमें से घटा दे तो केवल 16 घंटे बचते हैं, इन 16 घंटे में व्यक्ति प्रायः चार बार ही खा सकता है, इससे अधिक खाना संभव नहीं है|

इसमें एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि पूर्व भोजन के एक याम (तीन घण्टे) व्यतीत होने के पहले भोजन न करे तथा सामान्यतया 6 घण्टे बीतने के पहले ही भोजन कर ले, क्योंकि एक याम के मध्य में पहले किए गए भोजन के रस की परिपाक-प्रक्रिया में ही अवस्थिति रहती है, जबकि दो याम बीतने पर पूर्व रस का क्षय हो जाता है, यथा—

याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लङ्घयेत्।
याममध्ये रसोद्वेगो युग्मेऽतीते रसक्षयः॥

यामयुग्म (6 घण्टे) बीत जाने पर रसक्षय होने पर तीव्र जाठराग्नि आहार के न मिलने पर धातुओं का पाचन कर शरीर के क्षय का कारण बनती है, यथा—

आहारमग्निः पचति दोषानाहारवर्जितः।
धातून् क्षीणेषु दोषेषु जीवितं धातुसङ्क्षये॥ (अ .हृ. चि. 10/91)

वर्तमान काल में इस तरह के भोजन या स्वल्पाहार आदि का अधिक प्रचलन है, पर इसमें असावधानी रखने से गुरु-लघु का विचार न करने से, पथ्यापथ्य का एक साथ सेवन करने से, विरुद्धाहार का एक साथ प्रयोग करने से अनेक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

5. पुनः पुनः भोजन

इस को दो प्रकार से विभक्त कर सकते हैं- प्रथम प्रकार में नियत कालान्तर से थोड़ा-थोड़ा बार-बार खाने का कुछ लोगों का स्वभाव या अभ्यास हो जाता है यह भी अधिक से अधिक व्यक्ति 6 बार ही खा सकता है इससे अधिक खाना लगभग असम्भव है। अथवा उपर्युक्त चार प्रकार में यदि रात्रिकालीन भोजन के 3 घंटे बाद शयन करने से कुछ समय पूर्व दूध को ग्रहण करने को भी मान लिया जाए तो यह है पांच बार हो सकता है।

दूसरा प्रकार अनियत स्वरूप से कभी भी खा लेने का स्वभाव यदि किसी का है तो वह आयुर्वेद के भोजन करने के विकृत स्वरूप अध्यशन में परिगणित होता है, यह लम्बे समय तक नहीं चल पाता व्यक्ति शीघ्र ही अध्यशन से होने वाली विभिन्न विकृतियों से ग्रस्त हो जाता है।

अध्यशन को स्पष्ट करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि-भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम्||(च.चि.15/236) अन्य स्थल पर चक्रपाणि ने इसे और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में निर्दिष्ट किया है वे इन वाक्यों को भी चरक संहिता के

वाक्य बताते हैं पर वर्तमान चरकसंहिता में इस तरह के ये वाक्य उपलब्ध नहीं हैं, यथा- **"भुक्तस्योपरि यद्भुक्तं तदध्यशनमुच्यते"(च.सूत्र. 24/5-10 चक्रपाणि)**

भोजन की मात्रा

यह पृथक् रूप से विवेचनीय विषय है फिर भी संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि भोजन एक काल में हो या द्विकाल में हो या पुनः पुनः किया जाता हो, सभी में लिए जाने वाले भोजन में शरीर के पोषण के लिए पर्याप्त तत्त्वों का ग्रहण कर लिया जाता है, यदि इससे कम आहारतत्त्व गृहीत किए जाते हैं तो वे शरीर में धातुओं का क्षय करते हैं या अधिक आहारतत्त्व गृहीत किए जाते हैं तो वे दोषादि की वृद्धि करके रोगोत्पत्ति करते हैं

अतः ऊपर जितने भी काल निर्धारित किए गए हैं उनमें सब में यह सिद्धान्त दृष्टव्य है कि जो व्यक्ति एककालभोजन करते हैं उनके द्वारा किया गया भोजन अग्रिम दिन इस समय तक क्षुधा की उत्पत्ति करने की प्रक्रिया सम्पन्न करता है। इसमें व्यक्ति के आहार की मात्रा उसकी अग्नि के अनुसार और परिपाक की इस प्रक्रिया के अनुसार सुनिश्चित होती है, यही सिद्धान्त द्विकाल, त्रिकाल या अन्य भोजन ग्रहण के जितने भी काल हैं उन सब पर देखा जाना चाहिए।

जो बार-बार और जो एक बार भोजन करते हैं वे भोजन की मात्रा लगभग उसी के अनुरूप ग्रहण करते हैं, इसे सीधे शब्दों में कहा जाए क एक बार भोजन करने वाला व्यक्ति सामान्यतया कुछ अधिक मात्रा में भोजन करता है अथवा भोजन में आवश्यक तत्त्वों को अधिक मात्रा में लेता है अथवा उसकी अग्नि अधिक भोजन का परिपाक करने में समर्थ नहीं है।

इसी तरह जो व्यक्ति पुन-पुनः भोजन करता है उसके भोजन की मात्रा भी उसी रूप में विभाजित है अथवा यदि कुछ अधिक मात्रा में भी है तो यह माना जाना चाहिए कि उसकी जाठराग्नि अत्यंत तीव्र है या अभिवृद्ध दोषों के क्षय के लिए अल्प मात्रा में भोजन करना अधिक उपयुक्त है, लेकिन यह नियत समय तक ही होना चाहिए, अधिक समय तक अल्प मात्रा में लिया गया भोजन दोषों का क्षय करने के बाद धातुओं का क्षय भी कर देता है।

इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्तियों को अत्यधिक क्षुधा की प्रतीति होती है और वे मात्रा में भी अत्यधिक भोजन करते हैं वह विकृतिसूचक भस्मक रोग का परिचायक है। अतः इन सब परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए मात्रापूर्वक किये हुये भोजन के सम्यक् परिपाक के बाद विना विकृति हुए जो नियत समय पर क्षुधा की प्रतीति होती है वही भोजन का नियत काल माना जाना चाहिए, यह सिद्धान्त रूप में वाग्भट के वचनों के द्वारा ऊपर उद्धृत भी कर दिया गया है।